॥ ओ३म् ॥

१८५७
और
स्वामी दयानन्द

लेखक
स्वामी विद्यानन्द सरस्वती

अठारह सौ सत्तावन और स्वामी दयानन्द

डॉ० भवानीलाल भारतीय ने ठीक लिखा है कि "किसी व्यक्ति की मानसिक चिन्ताधारा और विचारसरणि ही उसके क्रियाकलापों की निर्देशिका होती है।" शिवरात्रि के व्रत और उस रात मन्दिर में जो कुछ घटा उसे यहाँ कहने की आवश्यकता नहीं है। स्वामीजी अपनी आत्म-कथा में लिखते हैं—"उस समय मेरे चित्त में प्रकार-प्रकार के विचार उत्पन्न हुए, और प्रश्न पर प्रश्न उठने लगे। तब मुझको शंका हुई कि जिसकी हमने कथा सुनी थी, वही यह महादेव है, या अन्य? क्योंकि वह मनुष्य के माफ़क़ एक देवता है। वह बैल पर चढ़ता, चलता-फिरता, खाता-पीता, त्रिशूल हाथ में रखता, डमरू बजाता, वर और शाप देता और कैलास का मालिक है, इत्यादि प्रकार का महादेव कथा में सुना था। अतः चूहे की यह लीला देखकर मेरी बाल-बुद्धि को ऐसा प्रतीत हुआ कि जो शिव अपने पाशुपतास्त्र से बड़े-बड़े प्रचण्ड दैत्यों को मारता है, क्या उसमें एक निर्बल चूहे को भगा देने की शक्ति नहीं है? ऐसे मन में बहुत तर्क उठे। तब पिताजी को जगाके पूछा कि यह कथा का महादेव है, या कोई दूसरा? तब पिता ने कहा कि क्यों पूछता है? तब मैंने कहा कि कथा का महादेव तो चेतन है। वह अपने ऊपर चूहे को क्यों चढ़ने देगा? और इसके ऊपर चूहे फिरते हैं। तब उन्होंने कहा कि कैलास पर जो महादेव रहते हैं, उनकी मूर्ति बना और आवाहन करके पूजा किया करते हैं। अब कलियुग में शिव का साक्षात् दर्शन नहीं होता। इसलिए पाषाणादि की मूर्ति बनाके उस महादेव की भावना रखकर पूजा करने से कैलास का महादेव प्रसन्न हो जाता है।

ऐसा सुनके मेरे मन में भ्रम हो गया कि इसमें कुछ गड़बड़ अवश्य है। तब अगले दिन पिता से मैंने कहा कि वह कथा का महादेव नहीं है। इसकी पूजा क्यों करूँ?"

धीरे-धीरे दयानन्द ने देखा कि हिन्दुओं ने इन स्वकल्पित ईश्वरों में से प्रत्येक की नाना प्रकार के उपकरणों के द्वारा पूजा-अर्चना करने और उस पूजा-प्रणाली को चिरकाल तक स्थायी रखने के उद्देश्य से एक-एक पुराण और उपपुराण की रचना भी कर डाली है। उन्होंने अनुभव किया कि यही भारत के सर्वनाश का मुख्य कारण है। ईश्वर-भक्ति, परोपकार, स्वार्थत्याग के स्थान पर अंग में गोपीचन्दन का लेपन, मुख से गंगालहरी का उच्चारण, कण्ठ में अनेक प्रकार की मालाओं का धारण करने को स्वर्ग-प्राप्ति का प्रवेश-पत्र मान लिया है। मूर्ति-पूजा के प्रपंच ने ही हिन्दुओं के मनोबल, विवेक और साहस को नष्ट कर दिया है। इसी ने आर्यजाति को सैकड़ों टुकड़ों में बाँट दिया है।

इसी के कारण यह गौरवशाली देश सैकड़ों वर्षों से पराधीनता की लौहमयी शृंखला में जकड़ा पड़ा है। मूर्ति-पूजा भारत के सारे अनिष्टों का मूल है। इस प्रकार दयाननद के मन में मूर्ति-पूजा के विरुद्ध भयंकर आक्रोश पैदा हो गया था। स्वामीजी के अनुसार मूर्तिपूजा के मूल में था—अनार्ष ग्रन्थों के पठन-पाठन से उत्पन्न अज्ञान।

आगे चलकर स्वामीजी लिखते हैं—"जब मेरी १६ वर्ष की अवस्था हुई तब मुझसे छोटी १४ वर्ष की जो बहन थी, उसको हैज़ा हो गया। तत्काल वैद्य बुलाये। ओषधि भी की। तथापि चार घण्टे में उसका शरीर छूट गया। जन्म से लेकर उस समय तक मैंने यही प्रथम बार मनुष्य को मरते देखा था। इससे मेरे हृदय पर वज्रपात हुआ। मुझको रोना तो नहीं आया, परन्तु मेरे मन में भय उत्पन्न हुआ कि देखो, संसार में कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार किसी दिन मैं भी मर जाऊँगा। इसलिए कुछ ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे जन्म-मरणरूपी दुःखों से छूटकर मुक्ति हो। यह विचार मन में रक्खा। किसी से कुछ कहा नहीं।

जिस समय सारा कुटुम्ब रो रहा था, मैं मूर्ति के समान चुपचाप अलग खड़ा था। उस समय मुझे बहुत-से मनुष्यों के जीवन, जो संसार में अनित्य हैं, निरर्थक प्रतीत हुए। नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प अतीव शोक के साथ उत्पन्न हुए। और जान पड़ा कि संसार में कोई भी ऐसा नहीं, जो निर्दयी मृत्यु के ग्रास से बच जाए। निश्चय मुझे भी एक दिन उस मृत्यु से सामना करना पड़ेगा। उस समय दुःख के निवारणार्थ ओषधि कहाँ ढूँढता फिरूँगा? और मुक्ति प्राप्त करने के निमित्त किस पर भरोसा करूँगा, और कौन-सा उपाय उसके लिए उचित है?

सारांश यह कि उसी समय पूर्ण विचार कर लिया कि, जिस प्रकार हो सके, मुक्ति हस्तगत करूँ जिसके द्वारा मृत्यु-समय के दुःखों से बचूँ। अन्त को यह हुआ कि इस संसार से मेरा मन एक बार ही हट गया और उत्तम विचार करने में सन्नद्ध हो गया।

इतने में १९ वर्ष की अवस्था हो गई। तब जो मुझसे अति प्रेम करनेवाले बड़े धर्मात्मा विद्वान् मेरे चाचा थे उनको विषूचिका ने आ घेरा। मरते समय उन्होने मुझे पास बुलाया। लोग उनकी नाड़ी देखने लगे। मैं समीप ही बैठा हुआ था। मेरी ओर देखते ही उनकी आँखों से अश्रुपात होने लगा। मुझे भी उस समय बहुत रोना आया, यहाँ तक कि रोते-रोते मेरी आँखें फूल गईं। इतना रोना पूर्व मुझे कभी न आया था। उस समय मुझे कुछ ऐसा प्रतीत हुआ कि मैं भी चाचाजी के सदृश एक दिन मरनेवाला हूँ।

चाचा की मृत्यु से अत्यन्त वैराग्य उत्पन्न हुआ कि संसार में कुछ भी नहीं। परन्तु यह बात माता-पिता से नहीं कही। मित्रों और विद्वान् पण्डितों से पूछने लगा कि अमर होने का कोई उपाय मुझे बताओ। उन्होंने योगाभ्यास करने के लिए कहा। तब मेरे मन में आया कि अब गृह त्यागकर कहीं चला जाऊँ। मुझे निश्चय हो गया कि असार संसार में कोई पदार्थ नहीं जिसके अर्थ जीने की इच्छा की जाय, वा किसी पर मन लगाया जाय।"

निश्चय ही महापुरुष विशेष मानसिक प्रकृति को लेकर जन्म लेते हैं और आजीवन उसी का अनुसरण करते हैं। आरम्भ से ही दयानन्द के अन्तःकरण में दो भाव विशेष रूप से कार्य कर रहे थे—प्रथमतः मूर्ति-पूजा और उसके सहयोगी उपवासादि बहिरंग साधनों के प्रति अश्रद्धा, अनास्था तथा अरुचि; द्वितीयतः संसार के प्रति वैराग्य तथा मृत्यु पर विजय। वयोवृद्धि के साथ-साथ ये दोनों ही भाव उत्तरोत्तर प्रबलतर होते गए। इनमें से अन्यों की अपेक्षा वैराग्य-भाव का प्राबल्य विशेष मात्रा में उभरता दीखा। परिणामतः २१वाँ वर्ष आते ही वह संसार और सांसारिकता की ओर से एकदम मुँह फेरकर खड़ा हो गया। गृहत्याग से लेकर दण्डी विरजानन्द की पाठशाला में पहुँचने तक दयानन्द की सभी गतिविधियों और प्रवृत्तियों का संचालन उनके हृदय में विद्यमान उन भावनाओं से हो रहा था जो मुख्यतः आध्यात्मिक तत्त्वों की जिज्ञासा से उद्‌भूत हुई थीं। उस अवस्था में उनका प्राचीन संन्यास की परम्पराओं के अनुरूप सत्यान्वेषण, योगिगवेषण, तथा शास्त्रालोचन के मार्ग को त्यागकर सशस्त्र क्रान्ति में प्रवृत्त हो जाना तथा सत्ताकामी राजपुरुषों को नेतृत्व प्रदान करना—किमाश्चर्यमतः परम्! दयानन्द तो स्वयं आर्ष ग्रन्थों के प्रचार तथा मृत्यु को जीतने के उपायों में उनका मार्गदर्शन करनेवाले किसी गुरु की खोज में भटक रहे थे।

देश-विदेश के अनेक विद्वानों ने स्वामी दयानन्द के जीवन-चरित लिखे हैं। परन्तु किसी एक ने भी उनके १८५७ के सशस्त्र संघर्ष में भाग लेने का उल्लेख नहीं किया। स्वयं स्वामीजी ने भी अपनी आत्मकथा में इसका कोई संकेत तक नहीं किया। १८५७ की हलचल को लक्ष्य करके जो पृथक् ग्रन्थ लिखे गए हैं, उनमें भी कहीं स्वामी दयानन्द का उल्लेख नहीं हुआ है। केवल कुछ आर्यसमाजी लेखकों ने ही इस विषय पर कलम उठाई है और इस निमित्त उन्होंने कहानी गढ़ी है जिनमें से कुछ अधिक प्रचलित को हमने लेख में कल्पित सिद्ध किया है। कल्पित होने के कारण उन्हें भारत के इतिहास में स्थान नहीं मिला है।

सत्यार्थप्रकाश के ११वें समुल्लास में अंग्रेज़ों द्वारा मूर्तियों के तोड़े जाने और इस प्रसंग में बाघेर लोगों की वीरता का उल्लेख हुआ है। इसके आधार पर यह कहा जाता है कि इस प्रकार का वर्णन वही कर सकता है जिसने यह सब प्रत्यक्ष देखा हो। इससे यह सिद्ध होता है कि स्वामी दयानन्द ने १८५७ के युद्ध में महत्त्वपूर्ण भाग लिया था। वहाँ लिखा है—

"जब संवत् १९१४ (सन् १८५७) में तोपों के मारे मन्दिर की मूर्तियाँ अंग्रेजों ने उड़ा दी थीं तब मूर्ति कहाँ गई थीं? प्रत्युत बाघेर लोगों ने जितनी वीरता की और लड़े, शत्रुओं को मारा। परन्तु मूर्ति मक्खी की एक टाँग भी न तोड़ सकी। जो श्रीकृष्ण के सदृश कोई होता तो उनके धुर्रे उड़ा देता और वे भागते फिरते।"

उससे पहले लिखा है—"ऊपर-नीचे चुम्बक पाषाण लगा रक्खे थे। उसके आकर्षण से वह मूर्ति अधर खड़ी थी। जब महमूद ग़ज़नवी आकर लड़ा तब यह

चमत्कार हुआ कि उसका मन्दिर तोड़ा गया और पुजारी भक्तों की दुर्दशा हो गई और लाखों फौज दस सहस्र फौज से भाग गई। जो पोप पुजारी पूजापुरश्चरण, स्तुति, प्रार्थना करते थे कि तुम तीन करोड़ रुपया ले लो, मन्दिर और मूर्ति मत तोड़ो। मुसलमानों ने कहा कि हम बुतपरस्त नहीं, और जाके झट मन्दिर तोड़ दिया।.....पुजारियों ने इन पाषाणों की इतनी भक्ति की, परन्तु एक भी मूर्ति उन (मुसलमानों) के सिर पर उड़के न लगी। जो किसी एक शूरवीर पुरुष की मूर्ति के सदृश सेवा करते तो वह अपने सेवकों को यथाशक्ति बचाता और शत्रुओं को मारता।"

क्या यह वैसा ही (शायद उससे अर्थात् बाघेरों वाले से भी अधिक स्पष्ट) वर्णन नहीं है? वह वर्णन सोमनाथ पर हुए आक्रमण का है। निश्चय ही स्वामीजी उसके प्रत्यक्ष द्रष्टा नहीं थे। वस्तुतः सजीव चित्रण करना तो लेखक की कला पर निर्भर है। बिना देखे, देखे-जैसा वर्णन किया जा सकता है।

बाघेर जाति के लोगों के वीरतापूर्ण कृत्यों का परिज्ञान (स्वामी जी) को था, यह सहज ही अनुमेय है। परन्तु वे स्वयं इनके संपर्क में आए थे अथवा उनके शौर्य को उन्होंने निकटता से देखा था, इसे उपयुक्त प्रमाणों के बिना नहीं माना जा सकता।

सन् १८५७ के सशस्त्र संघर्ष में स्वामी दयानन्द के योगदान की संभावना को श्री पृथ्वीसिंह महता ने 'हमारा राजस्थान' में उजागर किया था। इससे प्रेरणा पाकर इस संभावना को यथार्थ घटना का रूप देने का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रयास श्री पं० दीनबन्धु वेदशास्त्री जी ने 'ऋषि दयानन्द की अज्ञात जीवनी' लिखकर और तत्पश्चात् श्री स्वामी सच्चिदानन्द योगी ने 'योगी का आत्मचरित्र' लिखकर किया। वस्तुतः ये प्रयास श्रद्धा के अतिरेक के कारण ऋषि दयानन्द को महिमा-मण्डित करने के उद्देश्य से किये थे। ऋषि दयानन्द द्वारा कथित न होने के कारण इन्हें 'आत्मकथा' की कोटि में नहीं रक्खा जा सकता। अज्ञात जीवनी के अनुसार १८५७ के सशस्त्र संघर्ष की योजना तैयार करने में उनका महत्त्वपूर्ण हाथ था और सन् १८५५ में कुम्भ के अवसर पर नाना साहब, अज़ीमुल्लीखाँ, झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, तात्या टोपे तथा बाबू कुँअर सिंह आदि ने महर्षि दयानन्द से आशीर्वाद प्राप्त किया था। इस अज्ञात जीवनी के प्रामाणिक होने में न केवल सन्देह ही प्रकट किया गया है, अपितु प्रायः सभी विद्वानों ने इसे जाली घोषित किया है।

डॉ० भवानीलाल भारतीय ने तो इसके अंग-प्रत्यंग का एक्स-रे करके परीक्षण किया है। पं० युधिष्ठिर मीमांसक, आचार्य राजवीर शास्त्री तथा श्री दयालजी भाई ने अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन किया है। वस्तुतः 'अज्ञात जीवनी' एक उपन्यास से अधिक कुछ भी नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि इसमें ऐसी अनेक बातें हैं जिन पर विश्वास नहीं किया जा सकता और जिनका १८५७ की क्रान्ति के सम्बन्ध में लिखे अन्यान्य इतिहास-ग्रन्थों से सामंजस्य नहीं होता। सबसे बड़ी बात यह है कि इस विषय का गहराई से अध्ययन तथा विवेचन करने के बाद जो तथ्य उभरकर सामने आए हैं उनसे विदित हुआ है कि

बँगला भाषा के जिस हस्तलेख में स्वामी दयानन्द के १८५५ में कुम्भ के अवसर पर स्वतंत्रता-संग्राम के जिन नेताओं से मिलने का उल्लेख हुआ है, वह स्वयं पं० दीनबन्धु शास्त्री के हाथ का लिखा हुआ नहीं है और वह किसी भी अवस्था में पचास वर्ष से अधिक पुराना नहीं है। इसलिए इसे प्रमाण-कोटि में नहीं रक्खा जा सकता।

भारतीय इतिहास के अधिकृत विद्वान् और स्वामी दयानन्द की जीवनी के अध्येता एवं गवेषक प्रोफ़ेसर श्रीराम शर्मा ने 'परोपकारी' के जून १९७२ के अंक में प्रकाशित अपने लेख में 'अज्ञात जीवनी' की अनेक असंगतियों का विवेचन करते हुए उसे अप्रामाणिक घोषित किया है—"थियोसोफ़िस्टों में उन दिनों उनके योगाभ्यास में प्रवृत्त होने का वर्णन है। वस्तुतः तब (१८५५) तक स्वामी दयानन्द इतने विख्यात नहीं हुए थे कि देश का समूचा शासकवर्ग उन्हें अपने नेता के रूप में स्वीकार करता।" 'योगी का आत्मचरित्र' में वर्णित स्वामीजी के जीवन से सम्बन्धित अनेक बातों का विवेचन करते हुए शर्मा जी इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि "जिन टुकड़ों को कलकत्ता में स्थान-स्थान से इकट्ठा कर यह आत्मचरित रचा गया है वे कदापि स्वामी दयानन्द द्वारा कथित संस्कृत का बँगला अनुवाद नहीं है।"

१८५७ के युद्ध में स्वामी दयानन्द के योगदान से सम्बन्धित दूसरी चर्चित साक्षी मुज़फ़्फ़रनगर ज़िलान्तर्गत सोरम की सर्वखाप पंचायत के रिकॉर्ड में सुरक्षित बताई जाती है। अनेक विसंगतियों के कारण उसका प्रामाण्य भी सर्वथा सन्दिग्ध है। वर्त्तमान में उसके प्रस्तोता एवं प्रचारक मास्टर निहालसिंह हैं। कुछ वर्ष हमने उस रिकॉर्ड की प्राचीनता को निर्धारित करने की दृष्टि से उसका वैज्ञानिक रीति से परीक्षण-निरीक्षण कराने का सुझाव दिया था। इस पर उन्होंने बताया कि अधिक समय बीत जाने पर काग़ज़ ख़राब हो जाने से वह बेकार हो जाता है। अतः हर पचास वर्ष के बाद उसे नए काग़ज़ पर उतारने (लिख लिये जाने) की व्यवस्था कर रक्खी है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत सुरक्षित रिकॉर्ड की प्रामाणिकता तो किसी को स्वीकार्य नहीं हो सकती। इस रीति से तो कोई भी अपने पास रक्खे लेख को पाँच हज़ार वर्ष पुराना बता सकता है। उस भेंटवार्ता में उक्त मास्टर जी ने हमें किसी स्थानविशेष पर ले-जाकर नेताजी सुभाष-चन्द्र बोस के दर्शन कराने की बात भी की थी। पर अब तक उसका कुछ नहीं बना।

सन् १८५७ तक भारत में राष्ट्रीय भावना का समुचित विकास नहीं हुआ था। सारे भारत की स्वतन्त्रता और संपूर्ण भारत की राष्ट्रीय एकता ऐसे उच्च आदर्श हैं जिन तक आज भी नहीं पहुँचा जा सका है और आज भी भारतीयों की दृष्टि इतनी विशाल नहीं हुई है जो संकीर्ण भावनाओं से ऊपर उठकर देश को समग्रता में देख सके। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के ५० वर्ष बाद भी प्रान्तवाद, जातिवाद, भाषावाद, सम्प्रदायवाद, नदी-जलवाद आदि पूर्व की अपेक्षा कहीं अधिक उग्र रूप में उभरकर सामने आ रहे हैं। तब आज से १५० वर्ष पूर्व एकता की कल्पना कैसे की जा सकती थी? वस्तुतः सैनिक विद्रोह की प्रेरणा देनेवाले देशभक्त न होकर परिस्थितिवश उसके दास थे। इसलिए उन्हें एक सीमा तक ही देशभक्त कहा जा सकता है।

पेशवा बाजीराव की मृत्यु २८ जनवरी १८५१ के दिन हुई थी। बाजीराव का कोई पुत्र नहीं था। अतः ब्रिटिश सरकार उसके राज्य को सीधे अपने शासन में ले-आना चाहती था। नाना साहब उस गद्दी का दावेदार था। इसलिए अपने दावे को ईस्ट इण्डिया कम्पनी के डायरेक्टर्स के सामने प्रस्तुत करने के लिए उसने अज़ीमुल्लाह खाँ को लण्डन भेजा था। इसमें वे सफल नहीं हुए। पेशवा की गद्दी को प्राप्त करने में असफल होने के बाद नाना साहब और अज़ीमुल्लाह खाँ के लिए यही मार्ग शेष रह जाता था कि भारत से अंग्रेज़ों के प्रभुत्व को समाप्त करके बलपूर्वक अपने राज्य को प्राप्त किया जाय। तात्या टोपे नाना साहब की सेवा में थे। इसलिए उनका इसमें सहयोगी होना स्वाभाविक था। झाँसी के महाराजा गंगाधरराव की मृत्यु हो जाने पर ब्रिटिश सरकार ने उनके गोद लिये दामोदरराव को उनका उत्तराधिकारी मानने से इन्कार कर दिया और झाँसी को अंग्रेज़ी राज्य में मिला लिया। मेजर एलिस से इसकी सूचना पाते ही झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई ने दृढ़ता से कहा—"मैं अपनी झाँसी नहीं दूँगी!" यदि लक्ष्मीबाई की प्रार्थना को स्वीकार करके उनके पुत्र दामोदरराव को अपने पिता के उत्तराधिकारी के रूप में मान्यता मिल जाती तो महारानी लक्ष्मीबाई के युद्ध में शामिल होने का प्रश्न ही नहीं उठता था। उनकी देशभक्ति झाँसी तक सीमित थी। यही स्थिति बाबू कुँअरसिंह तथा बहादुरशाह ज़फ़र आदि की थी। अंग्रेज़ अफसरों के अपमानजनक व्यवहार से सैनिकों में पहले व्याप्त असन्तोष से लाभ उठाने के लिए वे सभी तत्त्व इस अंग्रेज़-विरोधी आन्दोलन में शामिल हो गए जिन्हें किसी भी रूप में सरकार से हानि पहुँची थी। धीरे-धीरे दूसरे लोग भी बहती गंगा में हाथ धोने के लिए सम्मिलित हो गए। परन्तु इस संघर्ष का मुख्य उद्देश्य गोरी सरकार द्वारा अधिगृहीत राज्यों या ज़ब्त जागीरों—ज़मींदारियों को वापस लेना था। देश-प्रेम वा राष्ट्रभक्ति से इसका कुछ लेना-देना नहीं था। ऐसे आन्दोलन में स्वामी दयानन्द जैसे योगमार्ग में प्रवृत्त मनीषी की भागीदारी की कल्पना भी नहीं की जा सकती। परन्तु कुछ अति उत्साही लोगों ने तो उनकी भागीदारी पर सन्तोष न करके इसका प्रेरक तथा नाना साहब आदि का परामर्शदाता तथा पथ-प्रदर्शक तक बना डाला। जब इतने से भी मन नहीं भरा तो उन्हें घोड़े पर बिठा एक सेनापति के रूप में छावनियों के दौरों पर भेज दिया।

तीन वर्षों में स्वामीजी की गतिविधियाँ—सन् १८५५-५७ के तीन वर्ष स्वतन्त्रता-संग्राम (जिसका नेतृत्व करनेवाले स्वामी दयानन्द बताए जाते हैं) की तैयारी में लगे बताए जाते हैं। उस अवधि में स्वामी दयानन्द कहाँ क्या कर रहे थे, इसका ब्यौरा इस प्रकार है—देवेन्द्र बाबू लिखित 'महर्षि दयानन्दचरित' के अनुसार संवत् १९१२ (सन् १८५५) का शीतकाल शिवपुरी में बिताया। "शारीरिक असमर्थता के कारण निश्चय किया कि मर भले ही जाऊँ, अलखनन्दा पर नहीं जाऊँगा। परन्तु मैंने तुरन्त सोचा कि मैं मरने की इच्छा क्यों करूँ? क्या ज्ञानानुशीलन में रत रहकर जीवन का अन्त करना मेरे लिए श्रेष्ठ कर्तव्य नहीं है?" पूना-प्रवचन में स्वामीजी ने कहा था—"हिमालय पहुँच कर यह विचार हुआ कि यहीं शरीर गला दूँ। फिर मन में आया कि यथार्थ ज्ञान प्राप्त

करने के बाद ही शरीर छोड़ना चाहिए। यह निश्चय करके मैं मथुरा आया।" इस बीच स्वामीजी को गुरु विरजानन्द जी का परिचय मिल चुका था।

देवेन्द्र बाबू आगे लिखते हैं—"संवत् १९१२ समाप्त हो चुका था। संवत् १९१३ के पहले पाँच मास कानपुर-इलाहाबाद में बीते। भाद्रपद में मिर्ज़ापुर पहुँचे। तत्पश्चात् काशी में रहकर वहाँ के प्रसिद्ध पण्डित काकाराम, राजाराम प्रभृति विद्वानों से वार्तालाप किया। वहाँ से चलकर असूज २ संवत् १९१३ को चुनार पहुँचे। उन दिनों में स्वामीजी योगाभ्यास में रत रहते थे। दिन-रात योगविद्या के अध्ययन और अभ्यास में तत्पर रहते थे।

चैत्र १९१४ में वहाँ से चलकर नर्मदा-स्रोत की यात्रा प्रारम्भ की।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन तीन वर्षों में वे जहाँ कहीं भी गए वहीं शास्त्राध्ययन और योगाभ्यास में प्रवृत्त रहे और उन्हीं से सम्बन्धित महानुभावों से मिलते रहे। न कहीं देश की स्वतन्त्रता से सम्बन्धित कोई बात की और न कहीं उसके लिए प्रयत्नशील व्यक्ति से संपर्क किया। वस्तुतः गृहत्याग से लेकर गुरुवर विरजानन्द जी की कुटी त्यागने तक स्वामीजी का जीवन सर्वथा व्यक्तिनिष्ठ था। वे अपने ही निर्माण में व्यस्त रहे। देश या समाज के विषय में उन्होंने कभी कुछ सोचा हो, इसका कहीं कोई प्रमाण नहीं मिलता। देश की स्वाधीनता के लिए किया गया यह युद्ध संवत् १९१४ के ज्येष्ठ मास (१० मई १८५७) को आरम्भ हुआ था, परन्तु स्वामी दयानन्द उससे पहले चैत्र १९१४ में ही देशाटन को चल दिये थे। फिर भी उन्हें इसकी योजना का सूत्रधार, उसके प्रमुख नेताओं का प्रेरणास्रोत और प्राचीन तथा मध्यकालीन सेनापतियों के समान युद्ध-क्षेत्र में भी उपस्थित रहनेवाला बताया जाता है। सच तो यह है कि सदा गुरुओं तथा योगियों की खोज में भटकते रहनेवाले दयानन्द जनता से बहुत दूर रहते थे। राजा-रजवाड़ों में न कोई उन्हें जानता था और न वे किसी को जानते थे। वस्तुतः उस समय तक दयानन्द की ऐसी स्थिति नहीं थी कि उनके नाम पर बड़े-बड़े राजे-महाराजे मार्गदर्शन के लिए उनके पास खिंचे चले आयें और सैनिक उनका संकेत पाते ही अपने प्राणों की बलि देने के लिए तैयार हो जाएँ।

यह आत्मकथा नर्मदास्रोत-गवेषण पर आकर समाप्त क्यों हो गई, इसका समाधान करते हुए भारतीय जी लिखते हैं—"जिस समय थियोसोफ़िस्ट पत्र में यह वृतान्त छपने लगा था, उस समय स्वामीजी के सम्बन्ध 'थियोसोफ़िस्ट' के संपादकों से सौहार्दपूर्ण थे। परन्तु कालान्तर में जब थियोसोफ़िस्ट सोसायटी और आर्यसमाज के बीच सैद्धान्तिक अन्तर की खाई बढ़ गई, तो न तो थियोसोफ़िस्ट के संपादकों की ही इस आत्मकथा को छापने में रुचि रही और न अपने व्यस्त कार्यक्रम और जटिल-संकुल जीवनचर्या के कारण स्वामीजी वृत्त की अगली किस्तें लिख पाए। अतः आत्मवृत्तान्त के अपूर्ण रह जाने से कोई विसंगति नहीं है।"

परन्तु उन तीन वर्षों में भी दयानन्द का चिन्तन तथा मानसिक उद्वेलन धर्म के स्वरूप

तथा शास्त्रों के यथार्थ को जानने पर ही केन्द्रित था, यह उनके १९१२ में शिवपुरी में 'शास्त्रानुशीलन में रत रहकर ही जीवन का अन्त करने', '१९१३ में पूर्वार्द्ध में इलाहाबाद-कानपुर में और तत्पश्चात् काशी में पण्डितों से शास्त्रचर्चा करने' और चुनार में 'दिन-रात योगविद्या के अध्ययन और अभ्यास में तत्पर रहने' और अन्ततः १९१४ (१८५७) में स्वाधीनता-संग्राम के आरम्भ होने से बहुत पहले नर्मदास्रोत-गवेषण के लिए चल देने से स्पष्ट है कि उनकी इस तथाकथित स्वाधीनता-संग्राम में तनिक भी रुचि नहीं थी। मूर्तिपूजा के प्रति उनका तिरस्कार का भाव अब भी इतना तीव्र था कि उन्हें भूखे रहना स्वीकार था, किन्तु मूर्ति-पूजक के यहाँ भोजन करना नहीं। इस सबसे यह सर्वथा स्पष्ट है कि दयानन्द का मन अब भी उन्हीं बातों में रमा हुआ था जिनके लिए उन्होंने घर को छोड़कर जंगल की राह ली थी। ऐसा व्यक्ति राजनीति के पचड़ों में कैसे पड़ सकता था? शास्त्राध्ययन तथा योगाभ्यास में प्रवृत्त व्यक्ति इस विषय में सोच भी नहीं सकता था—'स तु दीर्घकाल-नैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः' (योगसूत्र १। १४) वह योगाभ्यास दीर्घकाल, निरन्तर—लगातार और सत्कार-श्रद्धापूर्वक अनुष्ठित हुआ, दृढ़ आधारवाला होता है।

नर्मदा-तट पर स्वामीजी ने तीन वर्ष तक अनुभ्रमण किया। उसके विषय में स्वामी जी अपनी आत्मकथा में लिखते हैं—"फिर नर्मदा-तट पर तीन वर्ष तक फिरता रहा और अनेक महात्माओं का सत्संग करता रहा।" ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन में इतना और लिखा है—"फिर नर्मदा-तट पर दर्शनशास्त्रों को पढ़ा।" इस विवरण से स्पष्ट है कि जिस अवधि में स्वाधीनता-संग्राम की तैयारी हो रही थी तब दयानन्द "रात-दिन योगविद्या के अध्ययन और योगाभ्यास में तत्पर था" और जब लड़ाई चल रही थी तो वह युद्धक्षेत्र से सैकड़ों मील दूर नर्मदा-तट पर विचरण करता हुआ "योगविद्या के अध्ययन और योगाभ्यास" में लीन था।

आगे महता जी लिखते हैं कि "१८६० से १८६३ तक ढाई साल वह (दयानन्द) विरजानन्द के पास पढ़ता रहा। उस समय शास्त्रों के अध्ययन के अतिरिक्त देश की दशा पर भी दोनों गुरु-शिष्य का संवाद एकान्त में होता था जिसमें दोनों के सिवा तीसरा कोई नहीं होता था।" परन्तु १८५७ की हलचल समाप्त होने के बाद होनेवाली इस गुप्त मन्त्रणा की, उसमें दयानन्द की भागीदारी या नेतृत्व होने-न-होने की क्या प्रासंगिकता थी?

जयचन्द्र विद्यालंकार के अनुसार "१८५७ के प्रयत्न के विफल हो जाने के बाद उसके कारणों और उन्हें दूर करने के उपायों पर विचार करने की आवश्यकता थी। दयानन्द वही करने के लिए विरजानन्द के पास जा पहुँचे।" प्रथम तो दयानन्द का गुरु विरजानन्द जी के पास विद्याध्ययन, विशेषतः व्याकरण के अध्ययन के लिए जाना निर्विवाद है। दूसरे, तथोक्त विचार के लिए क्या तीन वर्ष का समय अपेक्षित था? अधिक-से-अधिक पूरा एक दिन पर्याप्त होता। फिर, गुरु विरजानन्द जी को तो मार-मारकर हकीम बनाने की तरह स्वतन्त्रता-आन्दोलन का प्रवर्तक बनाने की चेष्टा की गई है। और उसका आधार है सोरम

में सुरक्षित सर्वखाप पंचायत का रिकॉर्ड जो पूरी तरह जाली सिद्ध हो चुका है।

महापुरुषों के भक्त उनको महिमामण्डित करने के लिए अनेक प्रकार से अतिशयोक्तिपूर्ण प्रसंगों की कल्पना कर लिया करते हैं। स्वामी दयानन्द भी इसका अपवाद नहीं हैं। हम यहाँ ऐसी दो घटनाओं का उल्लेख कर रहे हैं—

१. नई दिल्ली से प्रकाशित साप्ताहिक 'सैनिक समाचार' के २० अक्टूबर १९६८ के अंक में एक घटना का ब्यौरा इस प्रकार दिया था—

"एक दिन लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक दादाभाई नौरोजी से मिलने गए तो उन्होंने नौरोजी को सत्यार्थप्रकाश पढ़ते देखा। तिलक बोले—'अरे दादा! आप भी आर्यसमाजी हो गए?' दादाभाई नौरोजी ने उत्तर दिया— 'मैं आर्यसमाजी नहीं बना हूँ, पर मैंने स्वराज्य-प्राप्ति की प्रेरणा तो इसी (सत्यार्थप्रकाश) से पाई है।' "

दादाभाई नौरोजी हिन्दी नहीं जानते थे और अंग्रेजी में सत्यार्थप्रकाश तब तक छपा नहीं था। इसलिए इसे कल्पना-प्रसूत मानते हुए भी हम 'सैनिक समाचार' के सम्पादक डॉ० श्यामसिंह शशि से परिचय होने के कारण उनके कार्यालय में पहुँच गए।

हमारे सामने 'सैनिक समाचार' का वह अंक रखते हुए संपादक महोदय ने बताया—लेखक का वास्तविक नाम श्रीकृष्ण शर्मा गौड़ है और वह आकाशवाणी में कार्यरत हैं। आकाशवाणी में जाने पर पता चला कि गौड़ साहब आज छुट्टी पर हैं। हम पानीपत लौट गए। पर जाते-जाते यह काम अपने मित्र, सूचना तथा प्रसार मन्त्रालय में उपसचिव श्री देशराज खन्ना को सौंप गए। खन्ना जी ने ध्यान नहीं दिया। हम भी दो- तीन पत्र लिखने के बाद शान्त हो गए। दो-तीन वर्ष बाद अचानक प्रो० रामसिंह जी के पास बैठे गौड़ साहब से भेंट हो गई। उन्होंने सहज भाव से कह दिया—"मैंने तो यूँ ही लिख दिया था।" पर उनका यह 'यूँ ही' फैल गया। अब वह पुस्तकों में भी प्रतिष्ठित हो गया।

२. अम्बाला के प्रसिद्ध आर्य नेता दीवान अलखधारी का एक लेख मेरठ कॉलिज की पत्रिका में १९६३ में प्रकाशित हुआ था। लेख का शीर्षक था—'Dayanand : A Political Genius'। लेख में स्वामी दयानन्द और तत्कालीन वायसराय लॉर्ड नॉर्थब्रुक की भेंट का उल्लेख हुआ था। लेख के अनुसार लॉर्ड नॉर्थब्रुक ने स्वामीजी से पूछा कि "आपको अपने धर्म-प्रचार के कार्य में कोई बाधा तो नहीं है?" स्वामीजी के 'नहीं' कहने पर वायसराय ने कहा—"तब तो आपको अपने भाषणों में अंग्रेज़ी राज्य के उपकारों का वर्णन करते हुए भारत में उसके स्थायित्व के लिए ईश्वर से प्रार्थना करनी चाहिए।" इस पर स्वामीजी ने निर्भीकता से उत्तर दिया—"यह कदापि नहीं हो सकता। इसके विपरीत मैं तो अहर्निश अपने प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि मेरे देश पर विदेशी शासन कभी न हो।" यही नहीं, उस लेख में यह भी लिखा था—"स्वामी दयानन्द के इस उत्तर से कुपित होकर वायसराय ने उन्हें बागी फकीर (Rebel Fakir) क़रार देते हुए एतत्सबन्धी गुप्त रिपोर्ट लण्डन-स्थित 'इंडिया ऑफिस' को भेजी और भारत में गुप्तचर विभाग को

उन पर कड़ी निगरानी का निर्देश दिया।"

स्वामी दयानन्द १६ दिसम्बर १८७२ को कलकत्ता पहुँचे थे और ३१ मार्च तक (बीच में मुर्शिदाबाद के संक्षिप्त प्रवास को छोड़कर) वहाँ रहे थे। उस अवधि में उन्होंने वहाँ के प्रायः सभी धर्माचार्यों, समाज-सुधारकों, शिक्षाविदों तथा सार्वजनिक नेताओं से सम्पर्क किया। उनमें मुख्य थे—देवेन्द्रनाथ टैगोर (कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ टैगोर के पिता), ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, रामकृष्ण परमहंस, केशवचन्द्र सेन, रमेशचन्द्र दत्त, हेमेन्द्र चक्रवर्ती, राजनारायण बसु, अक्षयकुमार दत्त, प्रतापचन्द्र मजुमदार आदि। प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् सत्यव्रत सामश्रमी तथा १८५५ में कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन के सभापति व्योमेशचन्द्र बनर्जी स्वामीजी के स्वागतार्थ स्टेशन पर उपस्थित थे।

स्वामीजी की भेंटवार्त्ता का विवरण तथा व्याख्यानों का सारांश स्थानीय समाचार-पत्रों में प्रकाशित होते रहते थे। यदि सचमुच स्वामीजी की भेंट वायसराय से हुई होती तो यह कैसे हो सकता था कि ऐसी महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख कलकत्ता ही नहीं, देश के प्रमुख नगरों के समाचारपत्रों में प्रकाशित न होता? स्वामीजी के जीवनी-लेखकों—उनके जीते-जी लिखे गए। 'श्रीमद्दयानन्द विजयार्क' के लेखक और उनके मित्र हरि गोपाल देशमुख, घर-घर अलख जगाते हुए खोजपूर्ण जीवन-चरित लिखनेवाले पं० लेखराम व देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, इतिहासविद् प्रो० श्रीराम शर्मा, स्वामी सत्यानन्द, मौलवी महेश प्रसाद, दीवान हरविलास शारदा, प्रो० बी० के० सिंह, डॉ० जार्डन्स आदि—में से किसी ने भी इन तथाकथित महत्त्वपूर्ण कही जानेवाली घटनाओं का उल्लेख नहीं किया। अन्यथा जाली सिद्ध परन्तु लेखकों या संग्रहकर्ताओं द्वारा सत्यापित 'अज्ञात जीवनी', 'योगी का आत्मचरित्र' तथा 'सर्वखाप पंचायत का रिकॉर्ड' में भी इनको स्थान नहीं मिला।

किसी समय आर्यसमाज अम्बाला के वार्षिकोत्सव के अवसर पर हमने स्वयं दीवान जी से इस भेंटवार्ता का स्रोत पूछा तो उन्होंने कलकत्ता से प्रकाशित 'इण्डियन मिरर' के दिसम्बर १९७२ का नाम लिया। हमने कलकत्ता-स्थित अपने परम मित्र पं० रमाकान्त उपाध्याय को खोज निकालने के लिए लिखा। किन्तु कहीं कुछ नहीं मिला। लण्डन के 'इण्डिया ऑफिस लायब्रेरी' को भेजे गए लॉर्ड नॉर्थब्रुक के तथाकथित डिस्पैच के सम्बन्ध में खोज डॉ० सत्यकेतु तथा डॉ० भारतीय ने अपने मित्र पं० ईश्वरनाथ शिवपुरी के द्वारा कराई। परन्तु एक-एक पन्ने को सावधानी से देखने पर भी कुछ नहीं मिला। जब एक दिन स्वर्गीय क्षितीश वेदालंकार से इस विषय में चर्चा हुई तो उन्होंने कहा—हो सकता है, वे काग़ज़ात लॉर्ड नॉर्थब्रुक के नेटिव होम (जन्मस्थान) में उनके फ़ॉर्म-हाउस में उपलब्ध हो सकें। कोई यह भी कह सकता है कि नॉर्थब्रुक के शव के साथ उसकी कब्र में दफ़ना दिये गए हों।

कलकत्ता में स्वामी दयानन्द और वायसराय लॉर्ड नॉर्थब्रुक की भेंट का प्रसंग एक अन्य कारणों से भी कल्पित प्रतीत होता है। सन् १८७५ में स्वामीजी बम्बई में थे। उसी

समय प्रिंस ऑफ़ वेल्स (कालान्तर में एडवर्ड सप्तम) के भारत-आगमन पर उनका स्वागत करते हुए लॉर्ड नॉर्थब्रुक भी बम्बई आए हुए थे। इस अवसर का लाभ उठाने की भावना से कलकत्ता से केशवचन्द्र सेन ने बम्बई-निवासी श्री आत्माराम पाण्डुरंग को पत्र लिखा कि वे वायसराय और स्वामीजी की भेंट की व्यवस्था करें। इस पर आर्यसमाज बम्बई के प्रथम प्रधान गिरधरलाल दयालदास कोठारी ने स्वामीजी से निवेदन किया कि यदि वे चाहें तो वायसराय से उनकी भेंट की व्यवस्था की जा सकती है। इस प्रस्ताव पर स्वामीजी की प्रतिक्रिया कुछ इस प्रकार की रही—"लॉर्ड नॉर्थब्रुक तो हमारे पास आने से रहे और हम भी संन्यासी हैं, हम भी उनसे मिलने नहीं जाएँगे। एक मध्यस्थ स्थान नियत करो जहाँ दोनों का मिलन हो सके।" स्पष्ट है कि जो संन्यासी आर्यसमाज की स्थापना होने के पश्चात् भी विदेशी सत्ता के प्रतिनिधि से मिलने को तैयार नहीं, वह भला १८७३ में उनसे भेंट के लिए क्यों उत्सुक होगा? अन्ततः यह भेंट नहीं हो सकी।

द्रष्टव्य : देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय कृत 'महर्षि दयानन्द का जीवनचरित'

स्वाधीनता-संग्राम को स्वामी दयानन्द की देन

१. हमारे स्वतन्त्रता-संग्राम के शलाका-पुरुष लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने कहा था—"स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।" इस एक ही वाक्य ने उन्हें 'स्वराज्य के मन्त्रदाता' के नाम से अमर कर दिया। उनकी यह उक्ति बिलकुल सटीक होते हुए भी वदतो-व्याघात थी। लोकमान्य की मान्यता के अनुसार आर्य विदेशी आक्रमणकारी थे जिन्होने ईसा से लगभग तीन हज़ार वर्ष पूर्व भारत पर आक्रमण किया था और अनेक प्रकार के अत्याचारों के बाद यहाँ के मूल निवासियों में से कुछ को मार, कुछ को खदेड़ और शेष को दास बनाकर इस देश पर बलात् अधिकार कर लिया था। अंग्रेज़ भी विदेशी थे। एक विदेशी को एक विदेशी से निकल जाने के लिए कहने का क्या अधिकार है? देश तो उनका है जो उसके मूल निवासी हैं। उस पर शासन करने का अधिकार उन्हीं का ठहरता है। 'Muslim India' के २७ मार्च १९८५ के अंक में यही कहा गया है—

"This land (India) belongs to those who are its original inhabitants and hence its rightful owners. They (the Aryans) don't belong to India. They are foreigners, the enemy within. As Aryans, they are India's first foreigners. If Muslims and Christians (the Britishers) are foreigners and must get out of India, as India's first foreigners, the Aryans are duty-bound to get out first. Those who came first must leave first."

आर्य (हिन्दू) विरोधी यह माँग अब ज़ोर पकड़ती जा रही है।

भारत में फूट डालने के लिए अंग्रेज़ सरकार की ओर से एक निश्चित योजना के अधीन इस विषवृक्ष का बीजारोपण ९ अप्रैल १८६६ को लण्डन की रॉयल एशियाटिक सोसायटी के बन्द कमरे में राइट ऑनरेबल वाइकाउंट स्ट्रांगफ़ील्ड की अध्यक्षता में किया

गया था। स्कूलों, कॉलिजों और विश्वविद्यालयों के द्वारा यह विचार प्रसारित किया गया और देश के स्वतन्त्र होने के बाद भी चल रहा है। इस प्रकार हम (आर्य) इस देश के मूल निवासी होते हुए भी विदेशी बनकर रह गए। इस बात की ओर सबसे पहले स्वामी दयानन्द का ध्यान गया और उन्होंने 'सत्यार्थप्रकाश' में लिखा—

"इस देश को आर्यावर्त इसलिए कहते हैं कि इसे आर्यों ने बसाया था। इससे पूर्व इस देश का नाम कोई भी नहीं था और न आर्यों से पूर्व इस देश में कोई बसते थे। यह बात सर्वथा झूठ है कि ये लोग ईरान से आए थे। आर्य लोग सृष्टि के आदि में कुछ काल के पश्चात् तिब्बत (जहाँ सृष्टि की उत्पत्ति के समय सबसे पहले मनुष्य-जाति का प्रादुर्भाव हुआ था) से सूधे इसी देश में आकर बसे थे।"[१]

इस प्रकार स्वाधीनता-आन्दोलन को स्वामी दयानन्द की पहली मौलिक देन यह है कि उन्होंने इस देश के लोगों पर से उनके विदेशी आक्रमणकारी होने के कलंक को मिटाकर इसका स्वामित्व प्रदान किया और इस प्रकार देश के मूल निवासी के रूप में इस पर शासन करने और तदर्थ स्वराज्य की माँग करने और उसे प्राप्त करने के लिए संघर्ष करने का वैधानिक अधिकार दिया।

२. सन् १८५७ के सैनिक विद्रोह की समप्ति पर १ नवम्बर सन् १८५८ को महारानी विक्टोरिया ने लॉर्ड केनिंग के दरबार में घोषणा की—

"When, by the blessings of Providence, internal tranquility shall be restored, it is our earnest desire to stimulate the peaceful industry in India, to promote works of public utility and improvement and administer its government for the benefit of all our subjects. In their prosperity will be our strength, in their contentment our security and in their gratitude our best reward."

"We declare it to our royal will and pleasure that none be anywise favoured, none molested and disqualified by reason of their religious faith and observance, but that all shall alike enjoy the equal and impartial protection of laws, and we do strictly charge and enjoin all those who may be in authority under us that they abstain from all interference with the religious belief or worship of any of our subjects on pain of our highest displeasure."

भाव यह है कि "जब प्रभु की कृपा से आन्तरिक शान्ति स्थापित हो जाएगी तब हमारी तीव्र इच्छा है कि हम भारत में शान्तिमय उद्योगों को प्रोत्साहन दें, जनोपयोगी उन्नति के कार्यों को आगे बढ़ाएँ और अपनी समूची प्रजा के हित की दृष्टि से कार्य करें। उनकी समृद्धि ही हमारी शक्ति होगी, उनकी सन्तुष्टि ही हमारी सुरक्षा होगी और कृतज्ञता ही हमारा सर्वोत्तम पुरस्कार होगा।

---

१. विस्तृत जानकारी के लिए देखें—लेखक की 'आर्यों का आदि-देश और उनकी सभ्यता'

हम यह अपनी शाही इच्छा घोषित करते हैं कि अपनी धार्मिक मान्यताओं के कारण किसी के प्रति किसी प्रकार का पक्षपात नहीं किया जाएगा, न किसी को अयोग्य माना जायगा और न ही किसी के साथ ज़्यादती की जायगी। इसके विपरीत सबको समान रूप से क़ानून का निष्पक्ष संरक्षण प्राप्त होगा। हम अपने समस्त कर्मचारियों से आग्रह करते हैं कि यदि किसी ने किसी के धार्मिक विश्वास और पूजाविधि में दख़ल दिया तो उसे हमारे तीव्र कोप का शिकार होना पड़ेगा।"

महारानी विक्टोरिया की इस घोषणा के उत्तर में स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश (समु० ८) में लिखा—

"कोई कितना ही करे, परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मत-मतान्तर के आग्रहरहित, अपने और पराए का पक्षपातशून्य, प्रजा पर माता-पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ भी विदेशियों का राज्य पूर्ण सुखदायक नहीं है।"

यह महारानी की घोषणा का तुर्की-ब-तुर्की जवाब है। फ़रवरी १९४४ में दिल्ली में सम्पन्न आर्य महासम्मेलन के अवसर पर अपने अध्यक्षीय भाषण में ऋषि के उपर्युक्त सन्दर्भ को उद्धृत करके डॉ० श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने टिप्पणी की थी—"Could there be a bolder declaration of a country's determination for war against foreign domination ?"

३. दयानन्द ऋषि थे। मानो, अपनी अन्तर्दृष्टि से स्वराज्योत्तर हमारी वर्तमान स्थिति का पूर्वानुमान करके उन्होंने इतना और लिख दिया—"परन्तु भिन्न-भिन्न भाषा, पृथक्-पृथक् शिक्षा, अलग व्यवहार का विरोध छूटना अति दुष्कर है। विना इसके छूटे परस्पर का पूरा उपकार और अभिप्राय सिद्ध होना कठिन है।"

"एक धर्म, एक भाषा और एक लक्ष्य बनाए विना भारत का पूर्ण हित दुष्कर है। सब उन्नतियों का केन्द्रस्थान ऐक्य है। जहाँ भाषा, भाव और भावना में एकता आ जाय वहाँ सागर में नदियों की भाँति सारे एक-एक करके प्रवेश करने लगते हैं। मैं चाहता हूँ कि देश के राजे-महाराजे अपने शासन में सुधार कर लें। अपने राज्य में धर्म, भाषा और भावों में एकता पैदा करें। फिर भारत में आप-ही-आप सुधार हो जाएगा।"

"जब तक एक मन, एक हानि-लाभ, एक सुख-दुःख परस्पर न मानें, तब तक उन्नति होना कठिन है।"

"जब सर्व भूगोल में वेदोक्त एक मत था, उसी में सबकी निष्ठा थी, एक-दूसरे का सुख-दुःख, हानि-लाभ आपस में समान समझते थे, तभी भूगोल में सुख था। अब बहुत-से मत वाले होने से बहुत-से विरोध और दुःख बढ़ गया है। इसका निवारण करना बुद्धिमानों का काम है। परमात्मा सबके मन में सत्य मत का ऐसा अंकुर डाले कि जिससे मिथ्या मत शीघ्र ही प्रलय को प्राप्त हों। इसमें सब विद्वान् लोग विचार कर विरोध-भाव को छोड़के आनन्द को बढ़ावें।"